

# नागरिक जमात का रास्ता



प्रफुल्ल कोलख्यान

भ्रष्टाचार के खिलाफ अण्णा हजारे के आंदोलन को पूरे देश के लोगों का समर्थन प्राप्त हुआ। इसमें दो बातों को जोड़ लेना चाहिए। पहली तो यह कि जिन तबकों का समर्थन नहीं मिला वे या तो अण्णा के आंदोलन से अवगत ही नहीं हैं या फिर अपने सक्रिय राजनीतिक सरोकारों से परिचालित हैं। इस विशाल देश में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं होगी जो इस आंदोलन की गति-मति से अवगत न हों। दूसरी बात यह कि आंदोलन की गति-मति से अवगत रहे लोगों में से जिनका सक्रिय समर्थन या जुड़ाव इस आंदोलन से नहीं बन पाया है वे भी अपने किंतु-परंतु के साथ निर्लिप्त भले हों, इसके विरोध में नहीं हैं।

## भ्रष्टाचार

मिटाने के लिए राजनीतिक स्तर पर कई बार पहल हुई, लेकिन नतीजा हर बार वही ढाक के तीन पात। इस परिणति के कई कारण चिह्नित किए जा सकते हैं। बीसवीं सदी घोर राजनीतिकरण की सदी रही तो इक्कीसवीं सदी वि-राजनीतिकरण की तरफ बढ़ती हुई सदी है। राज्य-सत्ता को पाना और बचाना राजनीति के केंद्र में होता है। राज्य-सत्ता का आधार राष्ट्रीय सरोकार, साफ-साफ कहा जाए तो, राष्ट्रवाद बनाता है। भूमंडलीकरण के इस दौर में राष्ट्रवाद शिथिल पड़ रहा है।

जनता और राज्य-सत्ता के संबंध में अंतर आना स्वाभाविक है। इस परिस्थिति में राजनीति के प्रति वही आग्रह बना नहीं रह सकता। इसके साथ ही आम आदमी इस निष्कर्ष पर भी बड़ी आसानी से पहुंच जाता है कि वह राज्य-सत्ता के प्रत्याशियों के चयन में अपनी सीमित भूमिका तो अदा कर सकता है, लेकिन सत्ता को अपने हित के प्रति आग्रहशील नहीं बना सकता। ऐसे में राजनीति से उदासीन हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं।

राष्ट्रवाद की सीमाओं को आजादी के आंदोलन के दौरान हमारे नेताओं ने भांप लिया था। वे इस बात को महसूस कर रहे थे कि मनुष्य मूलतः राजनीतिक नहीं, बल्कि सामाजिक प्राणी है। जब आधुनिक राष्ट्र नहीं था, समाज तब भी था। भारत में समाज से अधिक प्रभावशाली

समुदाय रहा है। समाज अंतर-सामुदायिक निर्मिति है। समाज पर प्रभुत्वशाली समुदायों का वर्चस्व रहा है। यह वर्चस्व अधिकतर मामलों में सामाजिक अत्याचार और आर्थिक उत्पीड़न को जन्म देता है और सामाजिक विकास की आंतरिक गतिशीलता के लिए अनिवार्य अंतर-सामुदायिक आवाजाही की स्वाभाविकता को बाधित करता है। नतीजतन सामुदायिक पिछड़ेपन का जन्म होता है। इस परिस्थिति से बाहर निकलने के लिए सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना की जरूरत महसूस की गई। राजनीतिक लोकतंत्र का मुख्य सरोकार सत्ता की संरचना में बदलाव का लक्ष्य लेकर चलता है, जबकि सामाजिक लोकतंत्र सामाजिक संरचना में स्थान पा चुकी अंतर-सामुदायिक आवाजाही की पगबाधाओं को दूर करने का लक्ष्य लेकर। राजनीतिक लोकतंत्र और सामाजिक लोकतंत्र को एक दूसरे का पूरक बनना ही हितकर होता है।

राजनीति और समाज, दोनों को जोड़ने वाला सामान्य तत्त्व लोकतंत्र होता है। परंपरा में जिंदा उच्चतर मूल्यों को समाज में बचाए रखना और आधुनिक मूल्यबोध की सामाजिक स्वीकृति के लिए संघर्ष आजादी के आंदोलन के महान लक्ष्य थे। आजादी के बाद इन दोनों लक्ष्यों की दीप्ति कम होती गई। लोकतांत्रिक प्रक्रिया सिर्फ राज्य-सत्ता के दखल का खेल बन कर रह गई। ऐसे में, राजनीति से वितृष्णा का आधार विकसित होने की स्थिति बनती चली गई।

एक बड़ी प्रक्रिया की छाया में कई छोटी प्रक्रियाएं शुरू हो जाती हैं। किसी भी प्रकार से राज्य-सत्ता को दखल करने की अपावन प्रक्रिया में संवैधानिक प्रावधान ठगे-से रह गए। दूसरी ओर जहां भी, जो भी मन को भा जाए उसे जैसे भी हो दखल में लेने का चलन भीतर से वैध हो गया। दखल लेने की शक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक बन गई। अण्णा हजारे का आंदोलन दखल करने के मकसद से खुद को दूर रखने और दखल किए जाने की प्रक्रिया को रोकने के प्रयास पर भरोसा जगा पाने के कारण ही इतना समर्थन जुटा पाया।

**सत्ता** से निरपेक्ष रहना अकल्पनीय ही है। लेकिन सत्ता पर दखल करने के खेल में लग जाना और सत्ता पर दबाव बनाने के लिए जनसमर्थन को जागरूक करना दो भिन्न स्थितियां हैं। राजनीति आह्वान करती है, दूसरों को निर्देशित करती है। चुनावी समीकरण में व्यक्ति को मतदाताओं के झुंड में बदल कर अमूर्त बना देती है। जबकि सामाजिक कार्रवाई उदाहरण प्रस्तुत करती है: मैं तो कर रहा हूं, चाहो तो तुम भी करो। वह व्यक्ति और समाज के आत्म-निर्णय के अधिकार को पुष्ट करती है।

समाज पुरानी और पारंपरिक निर्मिति है, राष्ट्र-राज्य नई और आधुनिक निर्मिति। समाज परंपरा का और राज्य आधुनिकता का पक्ष है। परंपरा के स्वस्थ पक्ष को प्रासंगिक आधुनिक

आग्रहों से कभी भी परहेज नहीं होता है। इसी प्रकार आधुनिकता भी परंपरा से विच्छिन्न नहीं होती, बल्कि मौजूदा जीवन-स्थितियों के संदर्भ में उसका विकास होती है। परंपरा और आधुनिकता के कगारों के बीच जीवन प्रवहमान रहता है। इन दोनों का मिल जाना या एक का दूसरे को निगल लेना जीवन को क्षतिग्रस्त करता है। यह सच नहीं है कि किनारों के मिल जाने से सूख जाती है नदी। सच तो यह है कि नदी के सूख जाने से किनारे मिल जाते हैं। अपने दोनों किनारों को साथ लेकर चलती है जीवन-शक्ति। राजनीतिक आंदोलन का अपना महत्व है तो सामाजिक आलोड़न का अपना। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों में संवाद और संघर्ष का संबंध भी स्वाभाविक है। लेकिन एक में दूसरे का समा जाना या इनमें से किसी एक का दूसरे को निगल लेना बड़ा अहितकर होता है।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में चले आजादी के आंदोलन की आंतरिक गति-मति को विवेचित करने से कई बातें साफ हो सकती हैं। सभी जानते हैं कि आंदोलन के निर्णायक दौर में गांधीजी कांग्रेस के औपचारिक सदस्य नहीं थे। यह कोई औचक बात नहीं है, बल्कि यह गांधीजी और कांग्रेस के संबंध की स्वाभाविक परिणति है।

गांधीजी के लिए मानवता स्वयंसिद्ध सर्वोपरि मूल्य थी। यही मूल्य-बोध गांधीजी को भक्तिकाल के संतों की वाणियों और नवजागरण की प्रेरणाओं की शक्ति से समृद्ध करता है। कुछ मत भिन्नताओं के बावजूद अंततः यही मूल्य-बोध रवींद्रनाथ ठाकुर और गांधीजी के वैचारिक साहचर्य की मनोभूमि तैयार करता है। गांधीजी के लिए मानवता का अर्थ था, मनुष्य के प्रति मनुष्य का मानवोचित सामाजिक व्यवहार। गांधीजी के लिए इसका एक सुनिश्चित व्यावहारिक अर्थ था। प्रकृति-प्रदत्त संसाधनों को क्षतिग्रस्त किए बिना मानव जाति की तमाम उपलब्धियों तक व्यक्ति की निर्बाध पहुंच बनने देने की संस्कृति के निर्माण में सामाजिक सहयोग। राजनीतिक रूप से संगठित होकर इस मानवोचित सामाजिक व्यवहार को सुनिश्चित करना असंभव-सा हो जाता है।

इसलिए जैसे-जैसे कांग्रेस संगठित राजनीतिक पार्टी बनती गई, वैसे-वैसे कांग्रेस और गांधीजी के बीच दूरी भी बढ़ती गई। यह अंतराल कांग्रेस से गांधीजी के अलगाव के रूप में सामने आया। गांधीजी से अलगाव कांग्रेस की संगठन-प्रियता को कम नहीं कर पाया। तात्कालिक रूप से कांग्रेस की जनप्रियता में भी कोई कमी नहीं आई। अंततः गांधीजी ने एक राजनीतिक पार्टी के रूप में कांग्रेस के विघटन की सलाह दे डाली। तब तक कांग्रेस इतनी संगठित हो चुकी थी कि उसके लिए ऐसी सलाह की उपेक्षा करना कोई मुश्किल काम नहीं था।

राजनीतिक पार्टी के रूप में अपने विघटन की सलाह मानना तो दूर की बात, कांग्रेस ने तमाम सामाजिक मुद्दों को सांगठनिक नजरिये से देखने और राज्य-सत्ता पर कब्जा बनाए रखने के उद्देश्य से अपने को परखना शुरू कर दिया। यह गांधीजी का सामाजिक पक्ष था कि आगे चल कर कांग्रेस की जनप्रियता में कमी का असर गांधीजी की सामाजिक स्वीकृति पर नहीं पड़ा। कांग्रेस सत्ता के खेल में तो बनी रही लेकिन संभावनाओं से भरपूर सामाजिक आलोड़न के राजनीतिक पर्यवसान की दोषी बन कर अपनी सामाजिक साख गंवा बैठी। सामाजिक आलोड़न के राजनीतिक पर्यवसान का ही नतीजा था कि आजादी मिलने के बाद कांग्रेस की सारी सामाजिक परियोजनाएं ठप होती चली गईं।

जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चले आंदोलन का स्वरूप भी गैर-राजनीतिक था। कम-से-कम अपने प्रस्थान में, सत्ता की राजनीति से वह अलग था। गैर-कांग्रेसी नेतृत्व की कोई कमी नहीं थी। वे लोग अपने-अपने ढंग से कांग्रेस की नीतियों के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष भी कर रहे थे। लेकिन छात्रों ने आंदोलन की बागडोर सौंपे जाने लायक किसी को नहीं समझा। हालांकि आजादी के आंदोलन में जयप्रकाश नारायण की महत्वपूर्ण राजनीतिक भागीदारी रही थी लेकिन आजादी के बाद वे सत्ता की राजनीति से बाहर निकल गए थे। 1975 तक उनकी व्यापक परिचिति और स्वीकृति सत्ता की राजनीति से निर्लिप्त शख्सियत की बन चुकी थी। सत्ता की राजनीति से यही निर्लिप्तता उस आंदोलन को नेतृत्व देने की उनकी स्वाभाविक योग्यता को पुष्ट करती थी। लेकिन जैसे-जैसे आंदोलन आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे उसके चाल-चरित्र में सत्ता की राजनीति का प्रवेश होता गया।

जेपीआंदोलन का रुख कांग्रेस, और खासकर इंदिरा गांधी, की सत्ता-चर्या के विरुद्ध जितना स्पष्ट था उतनी स्पष्ट उसकी पक्षधरता नहीं थी। उसकी नकारात्मकता जितनी बड़ी थी उसकी तुलना में सकारात्मकता बहुत बौनी थी। सत्ता की राजनीति से बाहर के आलोड़न में सत्ता की राजनीति के प्रवेश से 'दूसरी आजादी' का भी वहीं हथ्र हुआ जो अन्यथा नहीं होना चाहिए था। इंदिरा गांधी को जिस जनता ने सत्ता से बाहर का रास्ता दिखाया था, फिर से उसी जनता ने उन्हें सत्तासीन कर दिया। अपनी तमाम ईमानदारी और निष्ठा के बावजूद जेपी आंदोलन का सामाजिक फलितार्थ अपने लक्ष्य के आसपास भी नहीं पहुंच पाया। इसे आरोप के राजनीतिक पाठ के रूप में नहीं, सामाजिक आलोड़न की करुण आत्म-स्वीकृति के रूप में पढ़ना चाहिए।

अण्णा हजारे और उनका समूह अपने आंदोलन की दिशा क्या तय करेंगे यह तो वे जानें लेकिन सत्ता की राजनीति से बचे रहने के भ्रम में जिस दलदल की तरफ वे कदम बढ़ा रहे हैं उससे कोई शुभ संकेत नहीं मिल रहा है। मीडिया ने उनके प्रभाव के आकार को कितना

फुला दिया है और कितना वह वास्तव में है इसका आकलन भी उन्हीं को करना है। चुनावी प्रक्रिया से जुड़ने पर इस आंदोलन की धार के कुंद होने की आशंका है।

# चुनावी

राजनीति और भ्रष्टाचार का अपना संबंध है। संवैधानिक प्रावधानों के तहत होने वाले चुनाव में जनता के स्वतंत्र निर्णय की प्रतीक्षा करना और राजनीति और भ्रष्टाचार के संबंध को शिथिल करने की कोशिश करना रणनीतिक रूप से अधिक कारगर होगा। अण्णा समूह की दिलचस्पी किसी के जीतने या हारने में न होकर जीत कर आने वाले की जनपक्षधरता सुनिश्चित करने में होनी चाहिए। यही नागरिक जमात की कार्यशैली के भी अधिक अनुरूप होगा।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान